लोकतंत्र समीक्षा

खण्ड 39 अंक 1–2 जनवरी–जून, 2007

सम्पादक मण्डल

अध्यक्ष

श्री राम निवास मिर्धा

सम्पादक

प्रौफेसर अश्वनी कुमार बंसल

सहायक सम्पादक

डॉ. रविन्द्र सिंह

सांविधानिक तथा संसदीय अध्ययन संस्थान

नई दिल्ली

विषय सूचि

खण्ड 39 अंक 1–2 जनवरी - जून 2007

लेख

1. द्वितीय सदन की उपयोगिता एवं उसका योगदान
सुखराम सिहं यादव 1

2. न्यायिक निर्णयों के प्रति बढ़ती संवेदनहीनता : एक तथ्यात्मक- विश्लेषणात्मक अध्ययन
डॉ. जयकुमार मिश्र 12

3. जवाहरलाल नेहरू का सामाजिक-राजनीतिक चिन्तन एवं उसका दार्शनिक आधार
डॉ. एस. एन. जैन 23

4. समाजिक न्याय एवं न्यायः अंतः सम्बन्ध
डॉ. रश्मि श्रीवास्तव 38

5. संसदीय सर्वोच्चता और न्यायिक स्वतन्त्रता
डॉ. रामकृष्ण जायसवाल 46

6. भारतीय लोकतन्त्र की चुनौतियाँ
डॉ. वीणा गोपाल मिश्रा 57

7. भारतीय लोकतंत्र में सूचना के अधिकार की उपादेयता
हिमांशु शेखर 67

8. सूचना का अधिकार अधिनियम, २००५ एक मूल्यांकन
डॉ. वाय.बी. कसवे 71

9. भारत में संसदीय लोकतन्त्र का क्षरण
डॉ. सुनील कुमार तिवारी 77

10. स्वामी दयानन्द सरस्वती की स्वदेशी विचारधारा
डॉ. वाणी चौधरी 81

न्यायिक निर्णयों के प्रति बढ़ती संवेदनहीनता: एक तथ्यात्मक-विश्लेषणात्मक अध्ययन

डॉ. जयकुमार मिश्र*

सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों के प्रति कार्यपालिका और व्यवस्थापिका दोनों में अवज्ञा और असंवेदनशीलता के भावों का इतिहास उतना ही पुराना है जितना कि वर्तमान संविधान। इस भाव की पृष्ठभूमि *चम्पकम दोरायराजन बनाम् मद्रास राज*[1] नामक वाद में हुए निर्णय के विरुद्ध किए गए प्रथम संविधान संशोधन ने ही तैयार कर दी थी। *पश्चिम बंगाल बनाम् बेला बनर्जी*[2] के वाद में उच्चतम न्यायालय का अभिमत था कि, अनुच्छेद 31(2) के अन्तर्गत सम्पत्ति अधिग्रहण की स्थिति में जिस 'मुआवजे' की बात की गयी है, उसका आशय ठीक उतनी ही धनराशि से है, जिससे स्वामी को वंचित किया गया है। यदि 'मुआवजा' कम दिया गया है तो इसे न्यायालय में प्रश्नगत किया जा सकता है। इस निर्णय को अपास्त करने के लिए चौथा संविधान संशोधन किया गया जिसके अनुसार भूमि अधिग्रहण पर दिए जाने वाले 'मुआवजे' की उपयुक्तता जाँचने के न्यायालय के अधिकार को समाप्त कर दिया गया।

पुरुषोत्तम बनाम् केरल राज्य (1962) तथा *करीमबिल कुन्हीकेमन बनाम् केरल राज्य* (1962) के वादों में सर्वोच्च न्यायालय का जो निर्णय आया, वह संसद के सामाजिक-आर्थिक विधायन में बाधक सिद्ध हुआ। इस अवरोध तथा इससे जुड़ी हुई अन्य बाधाओं को दूर करने के लिए संसद ने 17वाँ संविधान संशोधन (1964) पारित किया। *गोलकनाथ बनाम् पंजाब राज्य*[3] के वाद में सर्वोच्च न्यायालय ने जब मौलिक अधिकारों में कोई संशोधन करने से मना कर दिया तो इन्दिरा गाँधी ने संविधान में 24वाँ संशोधन (1971) कर न्यायालय के निर्णय को पलट दिया। इसी प्रकार, जब इन्दिरा गाँधी ने शासकों की 'निजी थैली' (प्रिवी पर्स) समाप्त करने के लिए राष्ट्रपति से अध्यादेश जारी करवाया तो सर्वोच्च न्यायालय ने इस अध्यादेश को असंवैधानिक ठहराया, किन्तु उन्होंने

---

* अध्यक्ष-राजनीति विज्ञान विभाग, राजा हरपाल सिंह पी.जी. कॉलेज, सिंगरामऊ, जौनपुर (उ.प.)।

1 1951, एस. सी. आर., 525

2 1954, ए. आई. आर., 170

3 1967, ए. आई. आर. (एस. सी.), 164

26वाँ संविधान संशोधन (1971) पारित करके न्यायालय के निर्णय को पलट दिया। लेकिन 24वें और 26वें संविधान संशोधन को यह कहकर स्वीकार किया जा सकता है कि पाँचवें लोकसभा चुनाव में जनता ने इन्दिरा गाँधी को 'प्रगतिशील नीतियों' को क्रियान्वित करने के लिए ही दो-तिहाई स्थानों के बहुमत से जिताया था। किन्तु राजनारायण द्वारा लाए गए वाद में जब 12 जून, 1975 को इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने भ्रष्ट आचरण का दोषी मानते हुए श्रीमती गाँधी के लोकसभा निर्वाचन को शून्य घोषित कर दिया और 6 वर्ष तक चुनाव लड़ने के अयोग्य करार दिया,[4] तो निर्णय के विरुद्ध श्रीमती गाँधी ने उच्चतम न्यायालय में अपील की। 24 जून, 1975 को न्यायाधीश कृष्ण अय्यर ने उच्च न्यायालय की सजा पर 'सीमित रोक' का आदेश पारित किया। इस मुकदमें की अग्रिम सुनवाई 11 अगस्त, 1975 से की जानी थी किन्तु श्रीमती गाँधी ने 10 अगस्त, 1975 को 39वाँ संविधान संशोधन पारित करा दिया जिसमें कहा गया था कि राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, लोकसभाध्यक्ष तथा प्रधानमंत्री के निर्वाचन से सम्बद्ध विषयों पर न्यायालय विचार नहीं करेंगे। 39वाँ संविधान संशोधन एक राजनीतिज्ञ की स्वार्थान्धता और घोर प्रतिक्रियावादिता का उदाहरण है। यह संशोधन न्यायपालिका को पंगु बनाने के समान था। श्रीमती गाँधी न्यायपालिका के प्रति कितनी असहिष्णु थी, इसका प्रमाण इस बात से मिलता है कि *केशवानन्द भारती* वाद का निर्णय (जिसमें धड़ल्ले के साथ किए जा रहे संविधान संशोधन पर रोक लगाने के लिए सर्वोच्च न्यायालय ने संविधान की मौलिक संरचना का सिद्धान्त प्रतिपादित किया था) आने के दूसरे ही दिन (25 अप्रैल, 1973) को तीन वरिष्ठ न्यायाधीशों (ए. एन. ग्रोवर, के. एस. हेगड़े तथा जे. एम. शैलेट) की उपेक्षा करते हुए ए. एन. रे को सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश के पद पर नियुक्त कर दिया गया। 'प्रतिबद्ध न्यायपालिका' (सत्ता के प्रति प्रतिबद्धता) की दिशा में यह प्रथम कदम माना जा सकता है। ऐसा करके न केवल न्यायपालिका के प्रति राजनीतिक विद्वेष का परिचय दिया गया बल्कि न्यायालय को यह चेतावनी भी सांकेतिक किन्तु बोधगम्य भाषा में दे दी गयी कि सरकार के कार्यों पर प्रश्न चिह्न लगाने का अर्थ न्यायाधीशों के व्यक्तिगत विकास में बाधक हो सकता है।

1990 के बाद के वर्षों में आरक्षण पर जब सर्वोच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि किसी भी दशा में आरक्षण 50 प्रतिशत से अधिक नहीं होना चाहिए, तो इस निर्णय की अनदेखी करते हुए तमिलनाडु विधानसभा ने कानून बनाकर 69 प्रतिशत आरक्षण की व्यवस्था लागू कर दी। बाद में केन्द्र सरकार ने 76वाँ संविधान संशोधन पारित करके इस कानून को न केवल वैधता प्रदान कर दी, बल्कि इसे संविधान की 9वीं अनुसूची में डालकर असंशोधनीय बना दिया, ताकि यह न्यायिक समीक्षा से बच सके। *इन्दिरा साहनी बनाम् भारत संघ*[5] के वाद में सर्वोच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया था कि आरक्षण का

---

[4] 1976, *उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका*, 1-546

[5] ए. आई. आर., 1993, (एस. सी.), 477

लाभ किसी सेवा/नौकरी में केवल प्रवेश के समय दिया जा सकता है, पदोन्नति को आरक्षण पर आधारित नहीं किया जाना चाहिए। इस निर्णय को पलटने के लिए संविधान में 77वाँ संविधान संशोधन किया गया और पदोन्नति में भी आरक्षण का नियम लागू कर दिया गया। 81वें संविधान संशोधन द्वारा सर्वोच्च न्यायालय द्वारा तय 50 प्रतिशत आरक्षण की सीमा को भी समाप्त कर दिया गया। 81वें संशोधन द्वारा अनुच्छेद 335 के उस उपबन्ध को भी निरर्थक कर दिया गया जो प्रशासन में कार्यकुशलता और दक्षता की वकालत करता है। इसके बाद से आरक्षण के संदर्भ में न्यायालय के निर्णय को निष्प्रयोज्य ठहराने के लिए कुछ और संविधान संशोधन किए गए। 104वें संविधान संशोधन, जिसमें सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध निजी क्षेत्र में आरक्षण की व्यवस्था की गयी है, इसका एक उदाहरण है।

अहमद खान बनाम् शाहबानों के वाद में सर्वोच्च न्यायालय ने निर्णय दिया कि तलाक देने के बाद अहमद खान द्वारा शाहबानों को गुजारा भत्ता दिया जाये, किन्तु अनेक मुस्लिम कट्टरपंथी संगठनों ने इस निर्णय को मुसलमानों के मामले में न्यायपालिका का अनुचित हस्तक्षेप बताकर मानने से इनकार कर दिया। तत्कालीन प्रधानमंत्री राजीव गाँधी ने भी मुस्लिम वोटों के लोभ में आकर न्यायालय के निर्णय को पलटने के लिए 'मुस्लिम महिला (तलाक के अधिकार की सुरक्षा) विधेयक, 1986' नामक कानून बना दिया। उनके इस कार्य से न केवल न्यायपालिका के सम्मान को चोट पहुँची, वरन् 'स्त्री-पुरुष समान अधिकार' (अनुच्छेद 39) तथा 'समान नागरिक संहिता' (अनुच्छेद 44) के संवैधानिक उपबन्धों में वर्णित संविधान निर्माताओं की आकांक्षाओं की भी धज्जियाँ उड़ गयीं। शाहबानों केस के अलावा *मीना माथुर बनाम् जीतेन्द्र माथुर*[6] के वाद में तथा *जॉन वल्लामाटोम* के वाद में भी सर्वोच्च न्यायालय ने सरकार से समान नागरिक संहिता सम्पूर्ण देश में लागू करने को कहा, लेकिन इसके बावजूद भी इसे लागू करने की दिशा में सरकार ने कोई प्रयास नहीं किया। भारत के राष्ट्रपति डॉ. ए.पी.जे. अब्दुल कलाम ने भी स्पष्ट रूप से कह दिया है कि, देश में एक समान नागरिक संहिता लागू करना परम आवश्यक है। विश्व के अनेक देशों में समान नागरिक संहिता लागू है। यही नहीं, भारत के गोवा राज्य में समान नागरिक संहिता लागू है। आखिर जब एक प्रान्त में यह लागू हो सकती है, तो पूरे देश में क्यों नहीं? जब गोवा के मुसलमानों को समान नागरिक संहिता स्वीकार है, तो फिर देश के कुछ मुस्लिम संगठन किस आधार पर एक समान नागरिक संहिता का विरोध कर रहे हैं? वस्तुतः यह सारी बातें संविधान और न्यायपालिका के प्रति जन आस्था में गिरावट का संकेत है।

हड़ताल को लेकर भी सर्वोच्च न्यायालय ने समय-समय पर आदेश-निर्देश जारी किए हैं। सन् 1962 में सर्वोच्च न्यायालय ने *ऑल इण्डिया बैंक इम्प्लाइज यूनियन बनाम् नेशनल इण्डस्ट्रीज* के वाद में कहा था कि, "अनुच्छेद 19(1)सी की उदारतम व्याख्या भी हड़ताल

---

[6] ए. आई. आर., 1995

या सौदेबाजी का अधिकार नहीं देती।" सन् 1998 में सर्वोच्च न्यायालय की एक पूर्ण पीठ ने एक वाद में[7] यह निर्णय दिया कि किसी एक व्यक्ति या समूह के अधिकार देश भर के नागरिकों के मौलिक अधिकारों से ऊपर नहीं हो सकते। 7 अगस्त 2003 को भी सर्वोच्च न्यायालय ने एक वाद में[8] कहा कि सरकारी कर्मचारियों को हड़ताल करने का कोई संवैधानिक, कानूनी तथा नैतिक अधिकार नहीं है। वामपंथी दलों तथा अनेक मजदूर संगठनों ने इस निर्णय का विरोध किया। भारत के अटार्नी जनरल मिलन बनर्जी ने सर्वोच्च न्यायालय के इस निर्णय को 'समझ से परे' बताया। यद्यपि उन्होंने यह स्वीकार किया कि, प्रायः छोटे-मोटे (तुच्छ) कारणों से हड़ताल हो जाया करती हैं, जो गलत हैं। लेकिन साथ ही यह भी कहा कि इस आधार पर 'हड़ताल' पर पूरी तरह से रोक लगा देना भी गलत है। इस निर्णय के बाद जो बहस जनसंचार माध्यमों में शुरू हुई, उसमें 'आवश्यक हड़ताल' तथा 'गैर आवश्यक हड़ताल' पर चर्चा होने के बजाय 'हड़ताल के मौलिक अधिकार' पर ही चर्चा अधिक हुई। हड़ताल के पक्षधरों का मानना है कि भारत ने स्वाधीनता संग्राम में जीत हड़तालों के कारण ही प्राप्त की। ये लोग सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय को कर्मचारी विरोधी, मजदूर विरोधी और यहाँ तक कि लोकतंत्र विरोधी भी बता रहे हैं। आश्चर्य की बात है कि तत्कालीन प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी ने श्रमिकों के एक सम्मेलन को सम्बोधित करते हुए यह घोषणा की कि सरकार वह रास्ता तलाशेगी जिस पर चलकर न्यायालय के निर्णय से बचने की तरकीब निकाली जा सके। हड़ताल को लेकर सर्वोच्च न्यायालय का निर्णय तथा हड़तालवादियों के तर्क में जो टकराव है वह वास्तव में वर्गहित बनाम राष्ट्रहित का संघर्ष है। विश्व के किसी भी लोकतांत्रिक देश में कुछ व्यक्तियों के अधिकार समूचे राष्ट्र के लोगों से ऊपर नहीं हैं। इस वाद में सर्वोच्च न्यायालय ने कहा था कि "हड़ताल में सामान्य जनजीवन बन्धक हो जाता है।" इसलिए हड़ताल को मौलिक अधिकार बताने वाले लोग स्वार्थी हैं।

लोकतांत्रिक मूल्यों की रक्षा का दायित्व सँभाले इस देश की स्वतंत्र न्यायपालिका को नियंत्रित करने और उसे आहत करने की कोई भी कोशिश गम्भीर चिन्ता पैदा करती है और कभी-कभी यह आशंका उपजती है कि प्रजातांत्रिक संस्थाओं एवं मूल्यों के तेजी से क्षरित हो रहे इस दौर में कहीं हमारी स्वतंत्र न्यायपालिका पर अंकुश न लग जाये? यह न्यायिक परम्परा है और सर्वोच्च न्यायालय का एक निर्णय भी यही है कि उच्च न्यायालय के स्थानापन्न के रूप में कार्य कर रहे न्यायाधिकरणों के अध्यक्ष या चेयरमैन उच्च न्यायालय के सेवानिवृत्त मुख्य न्यायाधीश होंगे अथवा यह दायित्व उच्च न्यायालय में कार्यरत किसी वरिष्ठ न्यायाधीश को सौंपा जायेगा, लेकिन इस निर्णय के बावजूद भी नवम्बर 2003 के प्रथम सप्ताह में केन्द्र सरकार ने प्रतिस्पर्द्धा आयोग का अध्यक्ष, एक नौकरशाह (दीपक चटर्जी) को बना दिया। इसके विरुद्ध जो याचिका दायर हुई, उसमें न्यायालय ने इसे प्रत्यक्ष रूप से न्यायिक प्रक्रिया में हस्तक्षेप करार दिया। स्थिति की

---

7 *सी. पी. आई. (एम.) बनाम भारत सरकार तथा अन्य*, ए. आई. आर., 1998

8 *टी. के. रंगराजन बनाम तमिलनाडु सरकार तथा अन्य*, ए. आई. आर., 2003

गम्भीरता का अनुमान मुख्य न्यायाधीश बी.एन. खरे की इस टिप्पणी से लगाया जा सक
है कि "कुछ वर्ष बाद सरकार कहेगी कि वह सर्वोच्च न्यायालय के सभी 26 न्यायाधीशों
जगह नौकरशाहों को नियुक्त करेगी।" न्यायिक निर्णयों एवं निर्देशों की निरन्तर की जा र
अवहेलना से क्षुब्ध होकर ही मुख्य न्यायाधीश वी.एन. खरे ने एक सार्वजनिक मंच से क
था कि न्यायपालिका को छिन्न-भिन्न करने के लिए चारों ओर से प्रयास किये जा रहे हैं।

पहले दिल्ली उच्च न्यायालय ने तथा अपील होने पर उच्चतम न्यायालय ने एक जनहि याचिका[9] पर निर्णय देते हुए निर्वाचन आयोग को आदेश दिया था कि लोकसभा तथ राज्यसभा का चुनाव लड़ने वाले प्रत्याशियों से उनकी शैक्षिक योग्यता, चल-अचल सम्पत्ति तथा उनके खिलाफ चल रहे आपराधिक मुकधमों का ब्यौरा देने वाले शपथ-पत्र लिए जायं तथा उसे प्रचारित-प्रसारित किया जाय, जिससे कि आम मतदाता अपने मताधिकार क प्रयोग करने से पूर्व उम्मीदवारों के विषय में जानकारी प्राप्त कर सके। न्यायालय के आदेश पर तत्काल प्रतिक्रिया हुई, लेकिन जनप्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 में संशोधन करके यह व्यवस्था की गयी कि ऐसी जानकारी निर्वाचन आयोग को नहीं, वरन् संसद या विधानमण्डल के अधिष्ठाता (स्पीकर) को दी जाय। कानून के द्वारा यह प्रावधान भी किया गया कि स्पीकर यह सूचना किसी अन्य को नहीं देगा। यह संशोधन सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय की धार को कुंद करने के समान था, फलतः इसी सन्दर्भ में एक वाद पुनः दायर किया गया।[10] इस वाद में सर्वोच्च न्यायालय ने संसद के द्वारा किए गए संशोधन को असंवैधानिक करार देते हुए कहा कि, न्यायालय द्वारा प्रतिपादित कानून को बदलने की शक्ति संसद में नहीं है तथा सर्वोच्च न्यायालय द्वारा अभिनिर्धारित निर्णय निर्वाचन आयोग तथा सरकार के सभी अवयवों पर बाध्यकारी है। निश्चित रूप से यह निर्णय माननीय सांसदों को पसन्द नहीं आया होगा, लेकिन अवमानना तथा टकराहट से बचने के लिए उन्होंने विरोध का स्वर मुखरित नहीं किया। बाद में निर्वाचन आयोग ने सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय का सम्मान करते हुए उम्मीदवारों की शैक्षिक योग्यता, सम्पत्ति तथा आपराधिक रिकार्ड का ब्यौरा जनता के सामने रखना अनिवार्य कर दिया।

अजीज बासा केस[11] में सर्वोच्च न्यायालय ने अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय को अल्पसंख्यक संस्था मानने से इन्कार कर दिया था, लेकिन कांग्रेस सरकार ने 2005 में संसद में एक विधेयक पारित कर (अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय संशोधन अधिनियम, 1981, 2005) इसे अल्पसंख्यक संस्था घोषित कर दिया तथा वहाँ मुस्लिम समुदाय के

---

9 *यूनियन ऑफ इण्डिया बनाम एसोसिएशन फॉर डैमोक्रैटिक रिफॉर्म*, ए. आई. आर., 2002

10 *पीपुल्स यूनियन फॉर सिविल लिबर्टीज बनाम बनाम भारत संघ*, ए. आई. आर., 2003

11 *अजीज बासा बनाम भारत संघ*, ए. आई. आर., 1968, एस. सी., 622, इस निर्णय में कहा गया था कि 'स्थापना' और 'पोषण' दोनों शब्दों को साथ-साथ पढ़ना चाहिए और इस अर्थ में किसी धार्मिक सम्प्रदाय को केवल उन्हीं संस्थाओं के पोषण का अधिकार होगा जिनकी कि वह स्थापना करता है। चूँकि अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय की स्थापना एक अधिनियम द्वारा हुई है न कि मुसलमानों द्वारा, अतः वे उसके पोषण का दावा नहीं कर सकते।

होगा। यदि ऐसा नहीं हुआ तो यह अनुच्छेद 14 के अन्तर्गत वर्णित कानून के समक्ष समानता का उल्लंघन होगा। कानून के समक्ष समानता को भौगोलिक आधार पर विभक्त नहीं किया जा सकता। अवैध रूप से रहने वालों को देश से बाहर निकालने के लिए आई. एम. डी. टी. अधिनियम बना था जिसके अर्न्तगत अनेक न्यायाधिकरण स्थापित किए गए। किन्तु ये न्यायाधिकरण विदेशियों को पहचान कर उन्हें बाहर निकालने में अक्षम सिद्ध हुए। उच्चतम न्यायालय ने इन न्यायाधिकरणों की उपयोगिता एवं प्रासंगिकता पर प्रश्नचिह्न लगाते हुए इन्हें तत्काल प्रभाव से बन्द करने का आदेश दिया। लेकिन सरकार को उपरोक्त निर्णय पसन्द नहीं आया। सरकार ने न केवल आई.एम.डी.टी. अधिनियम को बहाल करने का प्रयास शुरू किया, वरन् इसी संदर्भ में विदेशी नागरिकता कानून में भी संशोधन किया। 10 फरवरी, 2006 को लिया गया यह निर्णय वस्तुतः राष्ट्र की आंखों में धूल झोंकने वाला और विदेशियों अर्थात् बांग्लादेशी नागरिकों को प्रोत्साहित करने वाला है। विदेशी नागरिकता कानून में संशोधन करने का जो फैसला किया गया उसके तहत ऐसे लोगों की नागरिकता का निर्धारण न्यायाधिकरणों के माध्यम से ही होगा। केंद्र सरकार के अनुसार इन न्यायाधिकरणों में विदेशी नागरिकों को अपने बचाव का पूरा अवसर दिया जाएगा। जो व्यक्ति किसी व्यक्ति को बांग्लादेशी बताएगा उसे स्वयं यह सिद्ध करना पड़ेगा कि वह व्यक्ति बांग्लादेशी है। यह बहुत ही कठिन कार्य होगा। वस्तुतः यह संशोधन एक संकट है। यह समझने के लिए किसी विशेष बुद्धि की आवश्यकता नहीं है कि विदेशी नागरिकता कानून में मनमाने ढ़ंग से संशोधन इसलिए किया गया कि अवैध बांग्लादेशी व्यक्तियों के मतों को आकर्षित किया जा सके। असम में लाखों घुसपैठिये न केवल मतदाता बन गए हैं बल्कि वे अनेक विधानसभा क्षेत्रों में चुनाव परिणामों को प्रभावित करने की स्थिति में भी पहुँच गये हैं। ऐसी ही स्थिति पश्चिम बंगाल के कुछ विधानसभा क्षेत्रों की है। इस प्रकार घुसपैठियों की तरफदारी करके तथा सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय को धता बताकर हमारे राजनीतिज्ञ और नीति-निर्माता राष्ट्र एवं लोकतंत्र को किस दिशा में ले जाना चाहते हैं?

आजकल संसद एवं विधानसभाएं शोरगुल, हंगामें तथा नारेबाजी आदि का अखाड़ा बनती जा रही हैं ऐसी स्थिति में यदि न्यायालय इन संस्थाओं को स्तरहीन राजनीति का केन्द्र बनने से रोकने हेतु आचार-संहिता अपनाने के लिए कड़ाई से कहे तो अनुचित नहीं होगा। सदन की प्रत्येक बैठक में लाखों रुपये व्यय होते हैं जो जनता की गाढ़ी कमाई के होते हैं। यदि व्यवस्थापिका इसे अपने कार्यक्षेत्र में हस्तक्षेप मानकर इन आदेशों को मानने से इनकार कर दे तो एक संवैधानिक संकट खड़ा हो जाएगा। मार्च 2005 में झारखण्ड में विश्वास मत प्राप्त करने की कार्यवाही पर सर्वोच्च न्यायंालय ने राज्य के मुख्य सचिव तथा डी०जी०पी० से निगाह रखने को कहा था। इस निर्णय को लेकर संसद में भारी शोर-शराबा हुआ और ऐसी बातें कही गयी जो न्यायपालिका की गरिमा के प्रतिकूल थीं। ऐसी दशा में उपरोक्त वर्णित सम्भावना निराधार नहीं है। केवल केन्द्र में ही नहीं, अब तो राज्यों में भी न्यायालय के निर्णयों के प्रति 'गंभीरता' का भाव कम होता जा रहा है। कावेरी नदी विवाद में कर्नाटक ने, 'यूरो 1' तथा 'यूरो 2' के प्रश्न पर दिल्ली सरकार ने

छात्रों को प्रत्येक कोर्स में प्रवेश के लिए 50 प्रतिशत आरक्षण लागू कर दिया। इस अधिनियम को इलाहाबाद उच्च न्यायालय में चुनौती दी गयी। न्यायाधीश अरुण टण्डन की एकल पीठ ने इस पर सुनवाई की तथा निर्णय दिया कि अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय अल्पसंख्यक संस्था नहीं है और इसलिए मुस्लिमों को दिया गया आरक्षण असंवैधानिक है। सरकार द्वारा एकल न्यायपीठ के इस निर्णय को उसी न्यायालय की बड़ी खण्डपीठ में चुनौती दी गयी। मुख्य न्यायाधीश ए. एन. रे तथा अशोक भूषण की खण्डपीठ ने अपने लम्बे निर्णय में कहा कि प्रश्नगत मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने बासा केस में निर्णय दे रखा है, जिस पर पुनर्विचार की आवश्यकता ही नहीं थी। संसद ने संशोधन कानून के जरिए न्यायालय के निर्णय को ओवररूल करने की कोशिश की जो अनुचित है और उसे ऐसा करने का कोई अधिकार ही नहीं है। माननीय न्यायाधीशों ने दो टूक शब्दों में कहा कि इस निर्णय के बाद अब इस संदर्भ में सर्वोच्च न्यायालय का दरवाजा खटखटाने की कोई आवश्यकता नहीं है। यह विडम्बना ही है कि उच्च न्यायालय के निर्णय के बाद भी केन्द्र सरकार विकल्पों की बात कर रही है।

वर्ष 2005 में मुस्लिम वोट बैंक को अपने पक्ष में करने के लिए आन्ध्र प्रदेश की सरकार ने मुसलमानों को सरकारी नौकरियों तथा शिक्षण संस्थाओं में पाँच प्रतिशत आरक्षण देने का आदेश जारी किया। इस आदेश को आन्ध्र प्रदेश उच्च न्यायालय में चुनौती दी गयी और अपने निर्णय में न्यायालय ने इस आरक्षण को असंवैधानिक घोषित कर दिया। आन्ध्र प्रदेश उच्च न्यायालय के इस निर्णय को राज्य सरकार ने उच्चतम न्यायालय में चुनौती दी। मुख्य न्यायमूर्ति वाई.के. सब्बरवाल, न्यायमूर्ति सी.के. ठाकुर तथा न्यायमूर्ति आर. वी. रविन्द्रन की तीन सदस्यीय खण्डपीठ ने अपने अंतरिम आदेश में कहा कि "हम उच्च न्यायालय के आदेश के कार्यान्वयन पर रोक लगाने के इच्छुक नहीं हैं, बल्कि इसे प्रभावी बनाते हैं।" मुसलमानों को रिझाने के लिए अब संविधान में संशोधन तक की बातें भी दबी जुबान से की जा रही हैं। भारत का संविधान जब स्पष्टतः धर्म व महजब के नाम पर आरक्षण का निषेध करता है, तो फिर राजनीतिज्ञ अपनी मनमानी करने पर क्यों तुले हुए हैं?

सरबनन्दा मोनवाल बनाम् यूनियन ऑफ इण्डिया तथा अन्य के वाद[12] में सर्वोच्च न्यायालय की खण्डपीठ ने (मुख्य न्यायाधीश आर.सी. लोहाटी, न्यायमूर्ति जी.पी. माथुर तथा पी.के. बालसुब्रह्मण्यम) यह निर्णय दिया कि यदि कहीं कोई ऐसा व्यक्ति जो विदेश से अवैध रूप से भारत आकर रह रहा हो, तो ऐसे व्यक्ति की सूचना सीधे-सीधे अनुच्छेद 32 के तहत सर्वोच्च न्यायालय को दी जा सकती है और किसी व्यक्ति का ऐसा करना उसका मूल कर्त्तव्य (अनुच्छेद 51(क)) होगा। इसी वाद में न्यायालय ने यह भी कहा कि यदि केन्द्र सरकार कानून बनाकर असम में बांग्लादेशी नागरिकों का अवैध आव्रजन रोकती हैं तो ऐसा कानून भले ही असम को ध्यान में रखकर बनाया गया हो वह पूरे देश में लागू

---

[12] एस. सी. जे., 2005 (5), पृ. 372

होगा। यदि ऐसा नहीं हुआ तो यह अनुच्छेद 14 के अन्तर्गत वर्णित कानून के समक्ष समानता का उल्लंघन होगा। कानून के समक्ष समानता को भौगोलिक आधार पर विभक्त नहीं किया जा सकता। अवैध रूप से रहने वालों को देश से बाहर निकालने के लिए आई. एम. डी. टी. अधिनियम बना था जिसके अन्तर्गत अनेक न्यायाधिकरण स्थापित किए गए। किन्तु ये न्यायाधिकरण विदेशियों को पहचान कर उन्हें बाहर निकालने में अक्षम सिद्ध हुए। उच्चतम न्यायालय ने इन न्यायाधिकरणों की उपयोगिता एवं प्रासंगिकता पर प्रश्नचिह्न लगाते हुए इन्हें तत्काल प्रभाव से बन्द करने का आदेश दिया। लेकिन सरकार को उपरोक्त निर्णय पसन्द नहीं आया। सरकार ने न केवल आई.एम.डी.टी. अधिनियम को बहाल करने का प्रयास शुरू किया, वरन् इसी संदर्भ में विदेशी नागरिकता कानून में भी संशोधन किया। 10 फरवरी, 2006 को लिया गया यह निर्णय वस्तुतः राष्ट्र की आंखों में धूल झोंकने वाला और विदेशियों अर्थात् बांग्लादेशी नागरिकों को प्रोत्साहित करने वाला है। विदेशी नागरिकता कानून में संशोधन करने का जो फैसला किया गया उसके तहत ऐसे लोगों की नागरिकता का निर्धारण न्यायाधिकरणों के माध्यम से ही होगा। केंद्र सरकार के अनुसार इन न्यायाधिकरणों में विदेशी नागरिकों को अपने बचाव का पूरा अवसर दिया जाएगा। जो व्यक्ति किसी व्यक्ति को बांग्लादेशी बताएगा उसे स्वयं यह सिद्ध करना पड़ेगा कि वह व्यक्ति बांग्लादेशी है। यह बहुत ही कठिन कार्य होगा। वस्तुतः यह संशोधन एक संकट है। यह समझने के लिए किसी विशेष बुद्धि की आवश्यकता नहीं है कि विदेशी नागरिकता कानून में मनमाने ढ़ंग से संशोधन इसलिए किया गया कि अवैध बांग्लादेशी व्यक्तियों के मतों को आकर्षित किया जा सके। असम में लाखों घुसपैठिये न केवल मतदाता बन गए हैं बल्कि वे अनेक विधानसभा क्षेत्रों में चुनाव परिणामों को प्रभावित करने की स्थिति में भी पहुँच गये हैं। ऐसी ही स्थिति पश्चिम बंगाल के कुछ विधानसभा क्षेत्रों की है। इस प्रकार घुसपैठियों की तरफदारी करके तथा सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय को धता बताकर हमारे राजनीतिज्ञ और नीति-निर्माता राष्ट्र एवं लोकतंत्र को किस दिशा में ले जाना चाहते हैं?

आजकल संसद एवं विधानसभाएं शोरगुल, हंगामें तथा नारेबाजी आदि का अखाड़ा बनती जा रही हैं ऐसी स्थिति में यदि न्यायालय इन संस्थाओं को स्तरहीन राजनीति का केन्द्र बनने से रोकने हेतु आचार-संहिता अपनाने के लिए कड़ाई से कहे तो अनुचित नहीं होगा। सदन की प्रत्येक बैठक में लाखों रुपये व्यय होते हैं जो जनता की गाढ़ी कमाई के होते हैं। यदि व्यवस्थापिका इसे अपने कार्यक्षेत्र में हस्तक्षेप मानकर इन आदेशों को मानने से इनकार कर दे तो एक संवैधानिक संकट खड़ा हो जाएगा। मार्च 2005 में झारखण्ड में विश्वास मत प्राप्त करने की कार्यवाही पर सर्वोच्च न्यायालय ने राज्य के मुख्य सचिव तथा डी०जी०पी० से निगाह रखने को कहा था। इस निर्णय को लेकर संसद में भारी शोर-शराबा हुआ और ऐसी बातें कही गयी जो न्यायपालिका की गरिमा के प्रतिकूल थीं। ऐसी दशा में उपरोक्त वर्णित सम्भावना निराधार नहीं है। केवल केन्द्र में ही नहीं, अब तो राज्यों में भी न्यायालय के निर्णयों के प्रति 'गंभीरता' का भाव कम होता जा रहा है। कावेरी नदी विवाद में कर्नाटक ने, 'यूरो 1' तथा 'यूरो 2' के प्रश्न पर दिल्ली सरकार ने

तथा आरक्षण के मुद्दे पर तमिलनाडु नें भी सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों को तात्कालिक रूप से मानने में असमर्थता व्यक्त की थी। यह सारी बातें एक 'संवैधानिक अनुशासनहीनता' की ओर संकेत कर रही हैं।

घूस लेकर संसद में प्रश्न पूछने के आरोपी सांसदों के मामले की सुनवाई जब सर्वोच्च न्यायालय में शुरू हुई तो भी कुछ सांसद इसे संसदीय विशेषाधिकार का उल्लंघन मान रहे थे। इसी प्रकार दिल्ली में सीलिंग को लेकर भी न्यायालय के दृष्टिकोण से सांसद असन्तुष्ट और क्षुब्ध नजर आये तथा उन्होंने खुलकर इसका विरोध भी किया। 1 दिसम्बर, 2006 को राज्यसभा में शान्ताराम लक्ष्मण नाइक द्वारा प्रस्तुत 'निजी संकल्प' पर चर्चा के दौरान जो वाद-विवाद हुआ, वह अभूतपूर्व था। राज्यसभा में सांसदों ने कहा कि सर्वोच्च न्यायालय को पहले अपने गिरेबान में झाँकना चाहिए और संविधान द्वारा निर्धारित 'लक्ष्मण रेखा' को पार नहीं करना चाहिए। इस संकल्प में यह कहा गया कि संसद में जो कानून पारित कर दिया गया उसे तब तक अमान्य करार नहीं दिया जा सकता जब तक कि सर्वोच्च न्यायालय में सात न्यायाधीशों की बेंच तथा उच्च न्यायालय में पाँच न्यायाधीशों की बेंच सर्वसम्मति से ऐसा निर्णय न करे। सांसदों का यह तर्क अनुचित नहीं है कि यह निर्णय करने का अधिकार न्यायपालिका का नहीं है कि कारखाना कहाँ लगे और मिड-डे-मील में क्या दिया जाये, लेकिन यदि कारखाना लगाते समय किसानों के हितों पर कुठाराघात हो और मिड-डे-मील में सड़ी हुई खाद्य सामग्री वितरित की जाये तो क्या न्यायपालिका को तब भी मूकदर्शक बने रहना चाहिए? जनहित के मुधों पर न्यायपालिका का रुख इतना कड़ा क्यों हुआ - यदि इस प्रश्न पर विचार किया जाये तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि यदि कार्यपालिका और विधायिका ने अपना दायित्व ठीक ढंग से पूरा किया होता तो शायद न्यायपालिका को आगे आकर 'सक्रिय भूमिका' निभाने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती।

दिसम्बर 2006 में ही उच्चतम न्यायालय ने एक निर्णय देते हुए कहा कि भ्रष्टाचार में लिप्त राजनेताओं पर मुकदमा चलाने के लिए किसी से अनुमति लेने की आवश्यकता नहीं है। अपराध दण्ड प्रक्रिया संहिता (सी.आर.पी.सी.) की धारा 197 तथा भ्रष्टाचार विरोधी कानून की धारा 19(1) की ओट में राजनेता वर्षों से स्वयं को बचाते आये हैं। अब देश के शीर्षस्थ न्यायालय ने यह स्पष्ट कर दिया है कि उक्त कानूनी प्रावधान लोकसेवकों को कर्तव्य निर्वहन के दौरान की गयी गलतियों के मामले में ही सुरक्षा प्रदान करते हैं। पद और अधिकारों का दुरुपयोग कर कोई लोकसेवक यदि भ्रष्टाचार करता है तो उसे इस कानून के अन्तर्गत सुरक्षा प्राप्त नहीं होगी। इसलिए ऐसे मामलों में मुकदमा चलाने हेतु किसी की पूर्वानुमति नहीं चाहिए। यदि यह निर्णय आने के बाद भी आरोपित नेताओं के खिलाफ कदम उठाने में देरी की जाती है तो इसका दायित्व सम्बन्धित जाँच एजेन्सी का ही होगा। इस निर्णय ने राजनेताओं की 'विधिक अभिजात्यता' को समाप्त करके 'कानून के समक्ष समानता' के नियम को प्रतिष्ठित किया है। आखिर इस बात का क्या औचित्य है कि उच्च पदों पर प्रतिष्ठित राजनेताओं पर केवल इसलिए मुकदमा न चलाया जाये कि इसके लिए अनुमति लेनी पड़ेगी। गठबन्धन की राजनीति में एक-एक सांसद या विधायक

का समर्थन 'मायने' रखता है। तब ऐसी अपेक्षा करना व्यर्थ है कि कोई सरकार अपने से जुड़े हुए किसी राजनेता के विरुद्ध मुकदमा चलाने की अनुमति प्रदान करेगी। उच्चतम न्यायालय के इस निर्णय के बाद देखा जाना चाहिए कि कहीं राजनेता अपने बचाव एवं सुविधा के लिए कोई अन्य कानून न बनाने लगें।

5 जून, 2007 को सर्वोच्च न्यायालय ने राजस्थान से शुरू हुए गुर्जरों के हिंसक आन्दोलन को स्वतः संज्ञान में लेते हुए हरियाणा, राजस्थान एवं दिल्ली पुलिस से दस दिन के भीतर उपद्रवियों के खिलाफ की गयी कार्यवाही की रिपोर्ट माँगी। न्यायालय ने सप्ताह भर से चल रही हिंसा पर नाराजगी व्यक्त करते हुए इसे 'राष्ट्रीय शर्म' कहा। न्यायाधीशों की पीठ ने इस हिंसा के लिए प्रशासन की अक्षमता को जिम्मेदार माना और कहा कि यदि प्रशासन सतर्क और प्रतिबद्ध होता, तो ऐसी हिंसा रोकी जा सकती थी। न्यायालय द्वारा की गयी इस 'स्वतः कार्यवाही' को न्यायिक सक्रियता का ही एक रूप माना जा रहा है।

न्यायपालिका के निर्णयों के प्रति असन्तोष का भाव और साथ ही जब न्यायपालिका सक्रिय रूप से जनकल्याण के काम को हाथ में ले, तो भी असन्तोष का भाव आज के राजनीतिज्ञों की प्रवृत्ति बन गयी है। राजनीतिज्ञों को यह समझना चाहिए कि न्यायाधीशगण मानवीय अधिकारों के प्रति वचनबद्ध होते हैं, यदि कार्यपालिका परिवर्तित होती परिस्थितियों के साथ नियम कानून नहीं बना पाती है, तो ऐसी दशा में न्यायपालिका मूकदर्शक नहीं रह सकती, उसे 'सक्रिय' बनना ही होगा। न्यायिक सक्रियता का आरम्भ इस बात पर भी निर्भर करता है कि राज्य में सत्तारूढ़ दल अपनी संवैधानिक जिम्मेदारियों का ठीक ढंग से निर्वाह कर रहा है या नहीं। व्यवस्थापिका की अकर्मण्यता और पक्षपातपूर्ण विधायन न्यायाधीशों को सक्रिय बनने हेतु प्रेरित कर सकता है। किसी भी राज्य को संगठित रूप से 'कानूनहीनता' की स्थिति से बचाने का रास्ता जनहित याचिका और न्यायिक सक्रियता ही हो सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि जनहित के प्रति संवेदनशील तथा चैतन्य न्यायाधीश आज के नैतिक और राजनीतिक ह्रास वाले युग में जनता की एकमात्र आशा की किरण हैं।

न्यायाधीशों का कार्य 'ज्यूडिशियल स्टेट्समैन' की भाँति होता है, उन्हें जनता की आकांक्षाओं, समाज की आवश्यकताओं और समय की गति व दिशा को ध्यान में रखना होता है। ऐसा करते समय वे संविधान द्वारा निर्धारित स्वतन्त्रता की सीमाओं को व्यापक बनाते हैं। न्यायालय की सक्रियता के कारण मौलिक अधिकारों ने एक नया परिप्रेक्ष्य ग्रहण कर लिया है जिससे ये अधिकार अपनी प्रऔति में नकारात्मक न होकर 'राज्य पर एक सकारात्मक दायित्व' के रूप में सामने आ गये हैं। यह न्यायपालिका की एक उपलब्धि है। आज न्यायालय भी यह मानने लगा है कि मूलाधिकारों तथा मानवाधिकारों का अनुपालन सुनिश्चित कराना तथा समाज से विषमताओं का उन्मूलन करना उसका भी दायित्व है, क्योंकि वह भी सरकार/शासन का एक आवश्यक अंग है।

भारतीय संसद, सर्वोच्च न्यायालय, संविधान का मौलिक ढाँचा और भारत की सामान्य जनता का हित - यह चतुष्कोण वर्तमान में आत्यन्तिक महत्व का बन गया है। मूल ढाँचे की संकल्पना और जनहित याचिकाओं ने सर्वोच्च न्यायालय की सक्रियता को तीव्रता प्रदान की है। संसद की संशोधन शक्ति सीमित दायरे में बँध गयी है। अमेरिकी सर्वोच्च न्यायालय की भाँति भारतीय न्यायपालिका अपने न्यायिक निर्वचनों के माध्यम से 'कानून की उचित प्रक्रिया' की ओर परिवर्तनोन्मुख है।

आज की राजनीतिक परिस्थितियों में यह सम्भावना बनी हुई है कि संसदीय वर्चस्व को न्यायिक निर्वचनों के द्वारा परिमार्जित करने से संघर्ष को आमन्त्रण मिले क्योंकि एक लिखित संविधान में संशोधन का प्रावधान असीमित एवं अनियन्त्रित परिमाप नहीं रखता है। भारतीय सर्वोच्च न्यायालय ने संसद की सीमित संशोधन शक्ति को संविधान के मूल ढाँचे का अंग माना है। ऐसी दशा में एक सहभागी लोकतन्त्र में किसी एक अंग के वर्चस्व की कल्पना न केवल घातक है बल्कि भविष्य के लिए आत्मघाती भी है। जनता के सर्वोच्च प्रतिनिधिक निकाय के रूप में संसद की गरिमा असंदिग्ध है और संविधान के संरक्षक के रूप में सर्वोच्च न्यायालय की भूमिका भी असंदिग्ध है, लेकिन परिस्थितियाँ कुछ इस तरह आकार ले रही हैं कि न्यायपालिका राज्य के अन्य अंगों (व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका) की तुलना में आज अधिक सम्मानजनक स्थान पर है और शक्ति सन्तुलन भी उसी की ओर झुका हुआ है। ऐसी परिस्थितियों में सन्तुलित न्यायिक विवेक का प्रयोग अपरिहार्य अनिवार्यता बन गयी है। लोकतन्त्र स्वस्थ, सजीव और दीर्घजीवी बना रहे, इसके लिए स्वतन्त्र और निष्पक्ष न्यायपालिका एक अनिवार्य शर्त है।

देखा जाये तो जैसे-जैसे हमारा लोकतंत्र पुराना होता जा रहा है उसकी संस्थाओं का चित्र व चरित्र धुँधला होता जा रहा है। न्यायपालिका संविधान की संरक्षक है, किन्तु कार्यपालिका में काम कर रहे लोग समझते हैं कि चूँकि लोकसभा में उनका बहुमत है अतः वे संविधान में अपने स्वार्थों व हितों के अनुकूल कोई भी परिवर्तन कर सकते हैं। कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका द्वारा जनसामान्य की निरंतर की जा रही अवहेलना के कारण ही न्यायालय ने 'जनहित याचिकाओं' के एक नए युग की शुरुआत की है तथा इसे 'कानून के शासन' का एक अनिवार्य अंग बताया है। निःसन्देह चाहे व्यवस्थापिका हो या कार्यपालिका सबको 'कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया' के अनुसार ही चलना है। यद्यपि संसद को कानून बनाने और संविधान में संशोधन करने का अधिकार है किन्तु इन दोनों ही मामलों में वह 'कानून और संविधान की भाग्य विधाता' नहीं बन सकती। क्योंकि संसद को संविधान की मौलिक संरचना में परिवर्तन का अधिकार नहीं है। संसद यह भी नहीं जानती कि 'मौलिक संरचना' क्या है, इसे तो केवल न्यायालय ही जानते हैं। यहीं आकर न्यायपालिका की 'शक्ति' और 'स्थिति' उच्च हो जाती है। मौलिक संरचना का सिद्धान्त प्रतिपादित करके सर्वोच्च न्यायालय ने वास्तव में उसी भूमिका का निर्वाह किया है जो संविधान निर्माताओं ने उसे सौंपी है, और यह जिम्मेदारी है - संविधान के संरक्षक की भूमिका की।

न्यायपालिका के पास अपने आदेशों को लागू कराने का कोई 'तंत्र' (System) नहीं है, इसलिए उसके अनेक आदेश बिना लागू हुए ही रह जाते हैं। सर्वोच्च न्यायालय के पास भी मुकधमों की इतनी भरमार है कि वह अपने आदेशों को लागू कराने के लिए बार-बार एक ही मामले की सुनवाई नहीं कर सकता। न्यायपालिका सरकारी अंगों मे सबसे कमजोर है। ऐलेक्जेण्डर हेमिल्टन का कथन है कि "इसके पास न तो तलवार है और न ही धन की थैली।" इसके निर्णय को क्रियान्वित करने के लिए कार्यपालिका के सहयोग की आवश्यकता है। बहुत से ऐसे तरीके हैं जिनसे बिना न्यायपालिका के आदेश की अवहेलना किए हुए कार्यपालिका द्वारा निर्णयों को कार्यान्वित करने में बाधाएँ उत्पन्न की जा सकती हैं। वस्तुतः न्यायपालिका की स्थिति और उसकी शक्ति उस मानसिकता की अपेक्षा रखती है जिसमें न्यायिक प्रक्रिया और न्यायिक संस्थानों के प्रति अन्तर्निहित श्रद्धा और सम्मान का भाव होता है। न्यायपालिका सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक न्याय की पूर्ति का साधन है उसे सामाजिक चेतना को प्रतिविम्बित करने वाले संस्थान के रूप में प्रतिष्ठित होना चाहिए।

आज राजनीति के स्वरूप और प्रऔति में जो ह्रास हुआ है उसने हमारे लोकतंत्र में अनेक बुराइयां पैदा कर दी हैं। इन सबसे मुक्ति पाने के लिए न्यायपालिका की स्वतंत्रता, निष्पक्षता, त्वरित व पारदर्शी न्यायप्रणाली और दंड की सुनिश्चितता एक अपरिहार्य आवश्यकता बन गए हैं। न्यायालय एवं जागरुक जनमत मिलकर इस दिशा में एक सार्थक प्रयास. कर सकते हैं। यदि ऐसा नहीं हुआ तो कल्पना कीजिए कि जिस प्रकार न्यायिक निर्णयों की अनदेखी सत्ता/सरकार द्वारा की जा रही है, यदि उसी प्रकार साामान्य प्रशासन एवं जनता भी न्यायालय के आदेशों/निर्णयों को मानने से इनकार कर दें तो लोकतंत्र तथा कानून-व्यवस्था का दाह-संस्कार ही हो जाएगा, फिर सेन्ट आगस्टाइन का यह कथन चरितार्थ हो जाएगा कि "जिन राज्यों में न्याय नहीं रह जाता, वे डाकुओं के झुण्ड मात्र रह जाते हैं।" वर्तमान राजनीतिज्ञों एवं नीति-निर्माताओं को गार्नर का यह कथन सदैव ध्यान में रखना चाहिए कि न्याय विभाग की गरिमा के अभाव में किसी भी सभ्य राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती।